पांचवां अध्याय

उत्तरशती की आलोचना की उपलब्धियां और सीमाएं

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए अनेक तीव्रगामी बदलावों ने साहित्य तथा आलोचना को पूर्णतः प्रभावित किया है। जैट युग में प्रत्येक चीज तात्कालिकता की मांग कर रही है, जिस कारण न तो आलोचकों को प्रतिमानों के निर्माण का अवकाश है न विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध रहने का। उदारीकरण - निजीकरण की नीतियों ने सत्ता का स्वरूप बदला है जिसके दबाव में आलोचकों के प्रतिरोध का स्वर कमजोर हुआ है। वैश्वीकरण ने बहुसांस्कृतिकता को जन्म दिया है और उभरते विमर्शों ने भाषायी चिंतन को बदला है। उत्तर - आधुनिकता के प्रभाव में मार्क्सवाद ने लचीला रूख अख्तियार किया है।

5.1 तात्कालिकता का प्रभाव

आज के दौर में रचनाकारों तथा आलोचकों पर देश - विदेश में घटित घटना का तुरंत प्रभाव पड़ रहा है। सोशल मीडिया, ब्लॉग, पेज आदि साहित्यकारों में तात्कालिकता पैदा करने वाले माध्यम हैं। विश्वभर में हुई घटनाओं पर रचनाकारों ने तुरंत अपनी कलम चलाई है तथा आलोचकों ने उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। पाकिस्तान के स्कूली बच्चों पर हुए आतंकी हमले हो या शरणार्थियों के विस्थापन की त्रासदी, सबने रचनाकारों को प्रभावित किया है। एजीयन सागर के किनारे मिले बच्चे के शव की घटना ने दुनियाभर के संवेदनशील लोगों को प्रभावित किया। इसी से दुनिया की स्थिति, देशों के आपसी संबंध तथा मानवता पर बहसों ने जन्म लिया। कवि शिवदयाल की कविता की पंक्तियां, "तुम शरणार्थी नहीं मेरे बच्चे/ सब दुनिया की संवेदना/ इतनी सी तुम्हारी निर्जीव देह में/ स्वयं शरण पा रही है।"[1]

तात्कालिकता के प्रभाव में ऐतिहासिक संदर्भों से हटकर किसी भी कृति पर तुरंत टिप्पणी की जा रही है, जो बाद के दिनों में तर्कों के बदलने पर अप्रासंगिक हो जाती है,"किसी समय की

[1] उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, अंक - 21, सितम्बर - 2015

रचनाशीलता की पहचान तत्काल नहीं हो सकती। तत्काल पुस्तक समीक्षा हो सकती है और वह खूब हो रही है।"[1] रचनाशीलता की पूर्ण पहचान तत्काल सम्भव नहीं है, बल्कि उसके लिए धैर्य चाहिए। इस धैर्य को जैट - युग ने निगल लिया है और प्रतिस्पर्धा के चलते रचनाकार तथा आलोचक सफलता के शॉर्टकट अपना रहे हैं। क्षणिक प्रभाव में फेसबुक, ब्लॉग तथा अखबारों में तुरंत आलोचनात्मक टिप्पणियां की जा रही हैं।

5.2 प्रतिमानीकरण की समस्या

'पिछले पाँच - छह वर्षों में समय - समय पर पत्रिकाओं में मैंने जो टिप्पणियाँ लिखी हैं, यहाँ उन्हें किताब की शक्ल में रख दिया गया है।' आचार्य शुक्ल व उनके समानांतर दूसरे आलोचकों की आलोचनात्मक पुस्तक पर इस तरह की शुरुआती पंक्तियां हमें देखने को कदापि नहीं मिलेगी। तीन - चार दशक से पहले के आलोचक किसी भी कृति का मूल्यांकन योजनाबद्ध तरीके से करते थे। आलोचना लिखने से पूर्व उनके सामने एक उद्देश्य होता था जिसे ध्यान में रखते हुए वे पहले सिद्धान्त निर्माण करते थे और फिर उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर कृति को परखते थे, "शुक्लजी समीक्षा ग्रन्थ पढ़कर समीक्षा करने वाले व्यक्ति न थे, जैसा कि आजकल का चलन है।"[2] कृति पर सिलसिलेवार बात करते हुए वे कृति के सभी पक्षों को सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर ही आलोचक के रूप में अंतिम संतुष्टि प्राप्त करते थे।

पिछले कुछ समय से आलोचना का यह तरीका पूर्णतः बदला है। अब सिद्धान्तों पर कृति को कसने की बजाय या तो पहले कृति को ध्यान में रखकर सिद्धान्त निर्माण होता है या फिर एक सिरे से किसी कृति को उठाकर पुस्तक समीक्षा (Book Review), या पुस्तक व्याख्या कर दी जाती है। सामाजिक - राजनैतिक परिस्थितियों को समझकर रचना को सम्पूर्णता में परखने की प्रवृति लुप्त होती जा रही है। इसी कारण आलोचना गम्भीर हस्तक्षेप नहीं कर पा रही।

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 17

[2] नामवर सिंह, हिन्दी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 115

आलोचना लिखी तो खूब जा रही है लेकिन संकट यह है कि उसे लिखने के पीछे निर्मित प्रतिमान नहीं है। बल्कि रचना के ब्यौरों का ही अनुसरण करते हुए आलोचक वर्णन भर करता है। रचना भी प्रशंसा चाहती है, मूल्यांकन नहीं। लेखक को स्थापित करने के लिए आलोचना रचना केन्द्रित न रहकर रचनाकार केन्द्रित हो रही है, "जब आलोचक यह समझने लगता है कि उसकी चर्चा से लेखक स्थापित होते हैं और उसकी उपेक्षा से वे अंधेरे में डूब जाते हैं तो, स्पष्ट है, आलोचना अपना बुनियादी काम नहीं कर पा रही होती है।"[1] जबकि आलोचक का काम रचना को रास्ता दिखाना है, रचनाकार के बोध को जगाना है।

सवाल यह है कि क्या पुराने प्रतिमानों के आधार पर नई रचनाओं की समीक्षा संभव है? शायद नहीं। इसी कारण आज रचना के साथ - साथ आलोचना का स्वरूप भी बदल रहा है। रचना के बदलते स्वरूप के समकक्ष आलोचना के प्रतिमान खड़े नहीं किए गए जो चिंतनीय है, "रचना की नई संवेदना की परख के लिए आलोचना के नए प्रतिमानों और औजारों की जरुरत पड़ती है।"[2] रचना में आए बदलाव व उभरते नए विमर्शों के साथ - साथ नई आलोचना प्रणाली विकसित करने की जरुरत है, जिसके मूल में परम्परा का चिंतन तो हो ही, नए विचारों का खुलापन भी हो। क्योंकि, "नए प्रतिमान युग विशेष की रचनाशीलता से ही बनते हैं और पृष्ठभूमि में परंपरा होती है।"[3]

नई रचना का मूल्यांकन पुराने प्रतिमानों के आधार पर नहीं किया जा सकता। रचनाशीलता के समानांतर आलोचना के प्रतिमानों का निर्माण होता है। अपने समय की चुनौतियों तथा चिंताओं के बरक्स ही आलोचना के औजार तय होते हैं। आलोचक अपनी प्रखर दृष्टि से पुराने प्रतिमानों को नया रूप भी दे सकता है और समयानुसार नए प्रतिमानों का निर्माण भी करता है। जब समय तथा परिस्थितियों के साथ रचना में बदलाव आया है तो आलोचना तथा आलोचनात्मक प्रतिमानों का बदलना लाजिमी लगता है। लेकिन आज की आलोचना ना तो

---

[1] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, भूमिका से

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 23

[3] वही, पृष्ठ - 11

पुराने प्रतिमानों को कारगर मानती है और ना ही नए प्रतिमानों की स्थापना कर पा रही है। इसीलिए आलोचना अपने समय को पकड़ने में अक्षम नजर आती है।

मैनेजर पाण्डेय आज की हिंदी आलोचना पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "हिंदी में पांच प्रकार की आलोचनाएं प्रचलित हैं, पहली है अखबारी आलोचना, दूसरी पुस्तक समीक्षा, तीसरी अध्यापकीय आलोचना, चौथी आस्वादपरक आलोचना जो पत्रिकाओं से लेकर व्याख्याओं तक में पायी जाती है और पांचवी है परा - आलोचना या साहित्य - सिद्धांत। हिंदी में जिसे साहित्य की मुख्यधारा कहा जाता है उसमें साहित्य - सिद्धांत का पूरी तरह अकाल ही है। पहले उपनिवेशवाद के कारण और अब भूमण्डलीकरण के प्रभाव में जैसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उधार से काम चलाने की हमारी आदत बन गई है, उसका विस्तार साहित्य की आलोचना में है और साहित्य - सिद्धांत में भी।"[1] हिंदी आलोचना में सुविधा - सिद्धांत की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अगर आलोचक को किसी विधा में रुचि नहीं होती वह उस विधा को ही खारिज कर देता है। आज के आलोचक जब किसी प्रतिमान का निर्माण नहीं कर पाते तो वे प्रतिमानीकरण को ही गलत ठहराते हुए उससे मुंह मोड़ लेते हैं। जबकि बिना किसी प्रतिमान के कोई आलोचना हो ही नहीं सकती। प्रतिमानीकरण के अभाव में, "निराधार आलोचना अपनी आलोचनात्मक क्षमता खो बैठी"[2] है, जो समकालीन साहित्य तथा आलोचना दोनों के लिए खतरनाक है।

5.3 विचारधारा का विलोपीकरण

आलोचना की दृष्टि को विचारधारा प्रभावित करती है तथा उससे प्रभावित भी होती है। वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण गोदान, झूठा - सच, तमस, आधा गांव, मैला आंचल, रागदरबारी जैसी लोकप्रिय व विचारधारात्मक रूप से सुदृढ रचनाएं अपने समय से आज तक प्रासंगिक हैं। उत्तर - आधुनिक दौर में किसी विचारधारा के तहत ही विचारधाराओं से मुक्ति की बात की जाती है। विचारधारा शब्द आलोचना में आतंक की तरह समझा जाने लगा है। जबकि विचारधारा

[1] मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति असहमति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 11

[2] नामवर सिंह, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, गद्यकोश, 11.5.2016

आलोचना के लिए श्वास का काम करती है। बिना विचारधारा के आलोचना मात्र वर्णन या गप्प रह जाती है, "बिना विचारधारा के आलोचना सहृदय प्रशंसा से अधिक कुछ ना रह जाएगी।"[1]

विचारधारा मात्र कोई कट्टर सिद्धांत नहीं बल्कि एक नजरिया है जो समय और परिस्थितियों के बीच संघर्ष से निर्मित होता है। विचारधारा हमारी चेतना का हिस्सा है जिससे हम किसी भी चीज को देखते, समझते तथा अभिव्यक्त करते हैं। रचना में किसी - न - किसी रूप में विचारधारा मौजूद रहती है, जिसका सही मूल्यांकन विचारधारा से समृद्ध आलोचना द्वारा ही हो सकता है।

समकालीन समय में विचार की जगह सूचनाओं ने ले ली है, जिसमें रचना का मूल्यांकन करने की बजाय उसे विज्ञापित करने पर जोर अधिक रहता है। सूचना के आदान - प्रदान में रचना में वर्णित घटनाओं की पृष्ठभूमि नदारद हो जाती है। इसी कारण आज आलोचक रचना के पक्ष के लिए कोई रिस्क लेने की बजाय सुरक्षित कोनों में सिमटकर आलोचनात्मक संतुलन बनाने की कोशिश में लगे हैं। गम्भीर आलोचना का स्थान परिचयात्मक व प्रशंसात्मक आलोचना ने ले लिया है, "पुस्तक समीक्षा, अखबारी आलोचना और गंभीर आलोचना को गड्ड - मड्ड करके देखा जा रहा है।"[2] विचार और इतिहास से कन्नी काटकर आलोचक समझौतावादी लेखन कर रहे हैं। विचारधारात्मक संतुष्टि के लिए मार्क्स, ग्राम्शी, लुकाच, टेरी ईगलटन की परिभाषाओं की परत चढ़ाते - चढ़ाते आलोचक स्वयं उसमें कहीं गुम हो जाता है।

साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के लिए विचारधारा अनिवार्य है। लेकिन सिर्फ किसी विचारधारा को कट्टरता के साथ कृति पर थोपना भी उतना ही नुकसानदेह होगा जितना बिना विचारधारा के कृति का मूल्यांकन करना। जरुरत यह है कि रचना की भांति आलोचना भी सम्वेदनशील होकर परम्परा के बोध के साथ वर्तमान के प्रति जागरुक हो। आलोचना का काम है तर्क और विचार के साथ रचनाकार और पाठक दोनों को सही रास्ता दिखाना, आलोचना,

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, जुलाई - अगस्त, 2011, (युवा आलोचना अंक), पृष्ठ - 18

[2] वही, पृष्ठ - 30

"स्वायत्तता का खुला आंगन नहीं जहां सबके लिए पलक - पांवड़े बिछे हों। अगर हमें अपने दौर के सबसे मूल्यवान साहित्य का चयन करना है तो इसका अर्थ साहित्य के नाम पर आ गए बहुत सारे लेखन को छानना भी है।"[1]

समकालीनता के नाम पर आलोचना इतिहास तथा परम्परा निरपेक्ष हो रही है। यह सही है कि आलोचक वर्तमान की आंख से समकालीन रचना को देखता - समझता है लेकिन अतीत की स्मृति से विहिन आलोचना वर्तमान का मूल्यांकन करने में असमर्थ होती है। प्रत्येक युग की आलोचना का यह भी दायित्व है कि वह अतीत की महत्त्वपूर्ण कृतियों की सार्थकता की व्याख्या समकालीन संदर्भों में करे, "हिंदी आलोचना का वर्तमान अगर संकटग्रस्त है तो इसके कारणों की पहचान होनी चाहिए। इस संकट का सबसे बड़ा कारण है आलोचना में साहित्यिक को सामाजिक से अलग समझने और मानने की प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति के कारण आलोचनात्मक व्यवहार के दौरान राजनीति, विचारधारा और सभ्यता के सवालों को साहित्य की आलोचना से बाहर कर दिया गया है।"[2]

विचारधारा रचना तथा आलोचना की रीढ़ होती है जिसके आधार पर उनकी उपयोगिता तय होती है तथा परम्परा में स्थान निर्धारण होता है। उत्तर - आधुनिकता के दौर में इस रीढ़ के टूटने से आलोचक को व्यर्थ की टीका - टिप्पणी करने की खूल मिली है, जो आलोचना में द्वंद्व पैदा करती है। अपनी सार्थकता बनाए रखने के लिए आलोचना को विचारधारा के स्तर पर गम्भीर होना होगा, "अच्छी आलोचना शैतान को भी उसका वाजिब हक देती है और जब - तब इसके लिए उसे भरपूर वैचारिक संघर्ष भी करना होता है।"[3] विचारधारात्मक आधार ग्रहण करके ही आलोचना समृद्ध तथा प्रभावशाली बन सकती है।

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, जुलाई - अगस्त, 2011, (युवा आलोचना अंक), पृष्ठ - 17

[2] मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति असहमति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 21

[3] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, भूमिका से

5.4 प्रतिरोध का बदलता स्वरूप

जब कभी भी समाज पर संकट आया है साहित्य उससे पूरी तरह प्रभावित हुआ है और कहीं न कहीं उस संकट से उभरने का रास्ता भी साहित्य ने सुझाया है। लेकिन, "उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की आंधी ने पूंजी को सबसे ऊंचा स्थान दिया है। इस आंधी ने एक आभासी दुनिया भी बनाई। इस आभासी दुनिया ने युवा पीढ़ी को सर्वाधिकार प्रभावित किया है। युवा पीढ़ी के असंतोष एवं विद्रोह दिनोदिन समाप्त होते जा रहे हैं। यदि किसी बात को लेकर उसकी बेचैनी है तो किसी वस्तु को लेकर नहीं और न ही विचार या आदर्श को लेकर व्यक्ति अपनी जड़ से कटता जा रहा है। समाज से विच्छिन्न हो रहा है। ऐसा होना भयानक समय से गुजरने के समान है।"[1] आज का बुद्धिजीवी वेडगेंस्टाइन के सूत्र 'Don't think, Look' पर चल रहा है, देखने का काम तो किया जा रहा है, पूरा परिप्रेक्ष्य लेखक के सामने है। लेकिन नून - तेल की चिंता में फंसा हुआ लेखक न सोचने का काम कर पा रहा है न बोलने की हिम्मत। प्रेमचंद की पंक्ति 'जब गर्दन दूसरों के पैरों तले दबी हो तो उन पैरों को सहलाने में ही समझदारी है।' को आज का लेखक ठीक से समझ रहा है। अपनी गर्दन को बचाने के लिए वह सत्ता के क्रूर पंजों को सहला रहा है।

आलोचक विरोध की क्षमता खोता जा रहा है, "आज अच्छे - खासे लोग धर्म, मजहब, वेद, कुरान आदि पर कुछ कहते हुए कांप जाते हैं। एक सलमान रुश्दी का जो हश्र हुआ उसके बाद क्या मजाल है कि कोई दूसरा लिखे। और ऐसे हालात में आप पूछते हैं कि आलोचक क्या लिखे? इसलिए मैंने कहा कि कवि कर्म के साथ आलोचना कर्म की भी कठिनाइयां बढ़ी हैं, मुश्किलें बढ़ी हैं।"[2] समाज के भीतर जो टकराहट चल रही है सबसे पहले लेखक को उसे पहचानना होगा, तभी वह इस पर अपनी राय व्यक्त कर सकता है, "जब तक आन्तरिक संघर्ष स्पष्ट, मुखरित एवं व्यवस्थित नहीं होगा, तब तक अभिजात्यशील से 'इतर' को बचाने की लड़ाई चल नहीं सकती। पारम्परिक मार्क्सवादी भाषा में कहें तो साहित्य में मानसिक आजादी बनाये रखने की लड़ाई में

---

[1] लीलाधर मंडलोई (सम्पा.),नया ज्ञानोदय, अंक - 148, जून - 2015, पृष्ठ - 109

[2] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 175

'कामिया' को अपने भीतर 'सर्वहारा चेतना' विकसित करनी ही होगी। नहीं तो जिसका हमें प्रतिरोध करना है वह हमें इतना मोहक लगने लगेगा कि हम दिये की तरफ जाने वाले पतिंगे की तरह हो जाएंगे और जलकर भस्म हो जाएंगे।"[1]

आज के समय में दुश्मन सीधा - सीधा सामने नहीं है, वह अलग - अलग वेश धारण करके शोषण कर रहा है इसीलिए आलोचक वर्चस्वशाली ताकतों को चेतावनी नहीं दे सकते। दुश्मन/शोषक की ठीक से पहचान न कर पाने के कारण ही आलोचना की कठिनाइयां बढ़ी हैं। प्रतिरोध के स्तर बदले हैं, हाशिए के समाज का मुख्यधारा के समाज से प्रतिरोध, स्त्री, दलित का अपनी पहचान के लिए प्रतिरोध, पूंजीवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों से प्रभावित लोगों का प्रतिरोध। साहित्य तथा आलोचना में यह प्रतिरोध अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद है, जो अस्मितावादी साहित्यालोचना में कहीं - कहीं मुखर रूप में सामने आया है।

साहित्यिक कृतियों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण पदक पाना हो चुका है, पदक पाने वाला साहित्यकार ही बाजारवादी व्यवस्था में स्थान बना पाता है। इसीलिए साहित्यकारों द्वारा पदक लौटाकर विरोध भी दर्ज करवाया जा रहा है। सामूहिक रूप से पदक लौटाना प्रतिरोध का नया स्वरूप ही है। अरुंधति राय ने अपना पदक लौटाते हुए प्रतिरोध स्वरूप एक बयान जारी किया कि "मुझे देश के लेखकों, फिल्मकारों और शिक्षाविदों द्वारा शुरु किये गये एक राजनैतिक आंदोलन का हिस्सा होने का मौका मिल रहा है। वे एक प्रकार की वैचारिक क्रूरता और हमारी सामूहिक बौद्धिकता पर हमले के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। यदि इसका मुकाबला हमने अभी नहीं किया तो यह हमें टुकड़े - टुकड़े कर बहुत गहरे दफन कर देगा। मेरा मानना है कि कलाकार और बुद्धिजीवी इस समय जो कर रहे हैं वह अभूतपूर्व है जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं है।"[2] आज रचनाकार रचना से ज्यादा महत्त्व पा रहा है, जितना प्रभावशाली व्यक्ति उतना ही प्रभावशाली उसका लेखन। व्यक्ति को महत्त्व देने वाली नई संस्कृति में लेखक गोष्ठियों, सम्मेलनों का बहिष्कार करके विरोध

---

[1] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 40

[2] उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, अंक - 22, पृष्ठ - 13

प्रकट कर रहे हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन (भोपाल, भारत) में बहुत सारे हिंदी लेखकों का न शामिल होना तथा समानांतर गोष्ठियां करना इसी विरोध का एक नया स्वरूप है।

साहित्यिक प्रतिरोध के कमजोर होने का एक कारण लेखक संगठनों की कमजोर होती भूमिका भी है। कालांतर में जो लेखक संगठन अपनी राजनैतिक समझ के साथ हरेक जगह हस्तक्षेप करते थे आज उनके मुद्दे बदल गए हैं। संगठन की कार्यप्रणाली तथा शक्तियां कुछ व्यक्तियों तक सिमटकर रह गई हैं और व्यक्तिगत लाभ - हानि के गणित में मुख्य मुद्दे पीछे छूट रहे हैं। तालमेल के अभाव में सत्ता पर कोई दबाव ये संगठन नहीं बना पा रहे हैं। सत्ता के हस्तक्षेप ने लेखकों तथा लेखक संगठनों पर नकेल कसकर उनकी आवाज को दबाने का काम किया है।

5.5 संस्कृतिमूलक चिन्तन/ बहुसांस्कृतिकता

दुनिया की अलग - अलग भाषाओं में एक ही समय में जहां 'शेली' और 'कीटस' जन्म लेते हैं, वहीं रवीन्द्रनाथ टैगोर पैदा होते हैं। दुनिया के एक कोने में बुद्ध का जन्म होता है, तब दूसरे कोने में ईसामसीह पैदा होता है। मुसलमानों के साथ ही उर्दू आती है और मुगल - कलम की चित्रकारी पैदा होती है। यूरोप से भारत के संपर्क से यहां की विचारधारा पर विज्ञान का प्रभाव पड़ता है, जिससे अनेक सुधारकों का जन्म होता है। दो जातियों या संस्कृतियों के मिलन से एक नई धारा निकलती है, जिसका असर दोनों पर पड़ता है। मिलन और संघर्ष की यह प्रक्रिया ही संस्कृति की जान है जो उसे जिन्दा रखती है। हम संस्कृति की परिभाषा नहीं दे सकते, उसके लक्षणों से उसे पहचान सकते हैं। संस्कृति एक गुण की तरह हमारे अंदर व्याप्त है। संस्कृति का स्वरूप व्यापक होता है, जो सब - कुछ समाहित करने की क्षमता रखता है। रामधारी सिंह दिनकर का मानना है कि 'कूपमंडूकता और दुनिया से रूठकर अलग बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है।'

साहित्य हमेशा से संस्कृति के केंद्र में रहा है, और साहित्य के केंद्र में रही है संस्कृति। भारतीय परम्परा में रविन्द्रनाथ टैगोर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि का चिंतन संस्कृतिमूलक चिंतन है। आलोचना के केंद्र में संस्कृति के आ जाने से साहित्य की आलोचना सांस्कृतिक हो गई है, "संस्कृतिवाद ने साहित्य की आलोचना को भी प्रभावित किया।

संस्कृतिवाद ने जिस तरह संस्कृति को संकुचित किया, उसी तरह उसने साहित्य की आलोचना को भी संकुचित किया। संस्कृतिवाद की शब्दावली में कहें तो संस्कृति ने साहित्य की आलोचना को संस्कृत - सुसंस्कृत किया।"[1] और आलोचना सांस्कृतिक हुई।

समाज, साहित्य, संस्कृति एक - दूसरे में समाहित तथा प्रभावित होते हैं, अतः किसी एक की व्याख्या पूरी संस्कृति की व्याख्या बन जाती है। अब कोई एक भारतीय संस्कृति नहीं बल्कि टुकड़ों में चिंतन हो रहा है। संस्कृति सम्बन्धी कोई केन्द्रीय कल्पना नहीं। आज संस्कृति के भिन्न - भिन्न रूप हमारे सामने हैं जिसमें संस्कृति के समूह हैं - आदिवासी संस्कृति, बाजारु या उपभोक्तावादी संस्कृति आदि रोज बनते - बदलते हैं। आलोचना संस्कृति की व्याख्या के साथ - साथ नई संस्कृति के निर्माण का काम भी करती है। ग्राम्शी ने लिखा है, "आलोचना का एक दायित्व नयी संस्कृति के लिए संघर्ष भी है। वह नयी संस्कृति साहित्य की भी होगी और समाज की भी।"[2] गुण - दोष विवेचन के बाद साहित्यिक बनी आलोचना अब सांस्कृतिक आलोचना हो गई है, "वर्तमान व्यवस्था में आलोचना का कर्म व्याख्या विश्लेषण तक सीमित न रहकर बहुत - कुछ एक सामाजिक या सांस्कृतिक कर्म है।"[3]

संस्कृति की आलोचना निरंतर हो ही रही है, अब जरुरत आलोचना की संस्कृति के निर्माण की है, "आलोचना की संस्कृति को ठीक से समझने के लिए संस्कृति की आलोचना जरुरी है और संस्कृति की आलोचना का पहला चरण है संस्कृतिवाद की आलोचना।"[4] संस्कृति की आलोचना का अर्थ उसके सभी पक्षों की आलोचना से है क्योंकि "प्रायः संस्कृति के दस्तावेज बर्बरता के भी दस्तावेज होते हैं। ऐसी स्थिति में जब संस्कृति संबंधी सोच में केवल समरसता, समन्वय और सामंजस्य की खोज होती है और दमन, भेदभाव, अधीनता और अन्याय की उपेक्षा होती है तब संस्कृति की आधी - अधूरी समझ पैदा होती है।"[5]

---

[1] नामवर सिंह, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, गद्यकोश - 11.5.2016

[2] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 15

[3] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 198

[4] नामवर सिंह, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, गद्यकोश - 11.5.2016

[5] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

पिछले कुछ वर्षों में पूंजीवादी भूमण्डलीकरण के उदय के कारण व्यावसायिक, नकल तथा विरुपीकरण की संस्कृति बढ़ी है, जिसने संस्कृतिविदों के लिए चिंता पैदा की है। परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विमर्श सजग तथा व्यापक हुआ है।

5.6 भाषायी चिन्तन

भाषा व्यक्ति को अभिव्यक्त करती है, उसे मनुष्य बनाती है। भाषा ही उसे अन्य प्राणियों से भिन्न तथा श्रेष्ठ बनाती है। भाषा चूंकि विचार - विनियम का साधन है इसलिए भाषा की संरचना को समझे बिना विचार को समझना संभव नहीं। भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है बल्कि सामाजिक संरचना का आधार भी है, "भाषाओं का प्राय दुहरा चरित्र होता है। सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ वे संस्कृति की भी वाहक होती हैं।"[1] कार्लोस फूएन्ते के अनुसार, "भाषा संस्कृति की नींव है, वह अनुभवों का द्वार है, कल्पना की छत है, स्मृतियों का तहखाना है, प्रेम का शयनकक्ष है और उसमें संदेहों, अनिश्चितताओं और प्रश्नों की खिड़कियां हैं।"[2]

किसी भाषा का वर्चस्व उसकी राजनैतिक स्थिति के आधार पर बनता है। राजनैतिक - आर्थिक स्थितियां ही हमारी सांस्कृतिक स्थिति का निर्धारण करती हैं। शक्तिशाली वर्ग की भाषा कमजोर वर्ग पर थोपी जाती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री केन हाल के अनुसार, "सांस्कृतिक और बौद्धिक विविधता के विनाश का सबसे खतरनाक प्रभाव भाषाओं के नाश पर पड़ रहा है। राजनीतिक रूप से वर्चस्वशाली भाषाएं और संस्कृतियां देशी भाषाओं एवं संस्कृतियों पर हावी हो रही हैं।"[3]

भाषायी चिंतन में हिंदी और अंग्रेजी का सवाल हमेशा उठता रहता है। अंग्रेज शासकों ने सिर्फ सत्ता ही नहीं हथियाई, जनता के दिमागों पर भी कब्जा किया तथा उनके अंदर भाषायी भेद पैदा किया। भाषा के स्तर पर ही लोग अपना स्तर निर्धारित करने लगे, "अंग्रेजों ने भाषा के बारे में जो नीति अपनाई, वह निश्चित तौर पर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का नमूना थी। उन्होंने अपनी भाषा

[1] न्यूगी वा थ्योंगो, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 1

[2] कार्लोस फूएन्ते, क्रिटिकल इंक्वायरी, समर प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ - 616

[3] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 46

- नीति का इस्तेमाल न सिर्फ अंग्रेजी थोपने के लिए किया बल्कि अंग्रेजी को एक ऐसी भाषा बनाने के लिए भी किया, जो विभाजन के औजार की तरह इस्तेमाल हो सके। और वह विभाजन के औजार की तरह आज तक इस्तेमाल होती है। आज तक हिंदुस्तान में अंग्रेजी बोलने वालों को थोड़ा ऊंचा समझा जाता है और जिसे अंग्रेजी नहीं आती, उसे दूसरे दरजे का या उससे भी नीचे का समझा जाता है।"[1] हिंदी की हीनता का कारण प्रशासकीय भाषा अंग्रेजी को बनाना रहा, "शासकीय भाषा का परिप्रेक्ष्य एक ऐसे वर्णसंकर 'शासकीय अभिजात्य' से बनता है जो अंग्रेजी के बिना अपना प्रशासकीय नियन्त्रण स्थापित करने में अपने को अक्षम पाता है"[2] 'Knowledge is power, language is power.' के मद्देनजर अमेरिकी साम्राज्यवाद की कोशिश विश्वभर में अंग्रेजी भाषा का अत्यधिक प्रचार रहा है। क्योंकि सत्ता, ज्ञान तथा संस्कृति का भाषा से गहरा संबंध है।

भाषा का स्वरूप निरंतर बदलता रहता है। उत्तर - आधुनिक दौर में वैश्वीकरण के प्रभाव ने भाषाओं की दूरी को कम किया है, जिससे हिंदी के स्वरूप में तेजी से बदलाव हो रहे हैं, "आज नए बाजार की हिंदी देश भर में प्रचारित - प्रसारित हो रही है। टेलीविजन और फिल्मों में नई हिंदी आ रही है, जो न केवल अंग्रेजी, बल्कि मुम्बई या कलकत्ता जैसे स्थानों पर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के तत्वों को भी समाहित कर रही है।"[3]

अधिकत्तर उत्तर - आधुनिकतावादी चिंतक भाषाशास्त्री भी हैं। जिनके चिंतन के फलस्वरूप पाठ तथा प्रतीकों पर बहस केन्द्रित हुई है। उत्तर - आधुनिकता के प्रभाव में भाषायी चिंतन में बदलाव आए हैं। अस्मिताओं के आधार पर अब स्त्री भाषा, दलित भाषा, आदिवासी भाषा आदि के सवाल भाषायी चिंतन के केंद्रीय सवाल बने हैं। भाषा को आधार बनाकर मानव सभ्यता के विकास की परम्परा को समझा जाने लगा है, "देश में भाषा की समस्या जिस तरह से

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सम्पा.), सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, शब्दसंधान, दिल्ली, पृष्ठ - 14

[2] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 58

[3] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), जमाने से दो - दो हाथ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 117

जटिल रूप लेती जा रही है, वह भाषा विज्ञान की ही चिंता का विषय नहीं रह गई है, वह स्वयं साहित्यकारों, राजनेताओं और सांस्कृतिक कर्मियों के लिए भी उतनी ही ज्वलन्त समस्या है।"[1]

भाषा और साहित्य का गहरा संबंध है, भाषा रचना का आधार है। भाषायी आधार पर ही रचना पाठकों द्वारा ग्राह्य होती है। लोक की बात को लोक की भाषा में ही समझाया जा सकता है, शासकीय भाषा में नहीं। इस बात को हिंदी के रचनाकार बहुत पहले ही पहचान चुके थे। पचास के दशक में रचनाकारों ने जनभाषा में रुचि दिखाई, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन ने लोक के मुहावरे को अपनाया। रचना को लोक की भाषा ने प्रभावित किया, जबकि समकालीन साहित्यकार दो स्तरों पर एक साथ काम कर रहे हैं एक तरफ जहां लोकवृत उभर रहा है वहीं दूसरी तरफ रचनाएं भूमण्डलीकरण के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। रचना 'भाषा के काकटेल' में डूब रही है। शिष्ट साहित्य की मानक भाषा और लोक साहित्य की जनभाषा के साथ - साथ अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का भी सम्मिलन हो चुका है और ये सभी भाषाएं अलग - अलग रचनाकारों द्वारा या रचनाओं में प्रयोग होने की बजाय एक साथ सभी रूपों में प्रयोग हो रही हैं। आज के समय में विचारधारात्मक व भाषायी दीवारें गिर रही हैं। रचना की इस भाषा की तर्ज पर आलोचना की भाषा को बदलने की जरुरत महसूस करते हुए नामवर सिंह कहते हैं, "भाषा को जब तक हिंदी आलोचना नहीं तोड़ेगी तब तक वह एक ही जगह पर कवायद करती रहेगी। इसलिए रचनाकारों से हाथ जोड़कर मैं निवेदन करुंगा कि मित्रों, तुम लोगों ने तो अपनी भाषा तोड़ी है, हम आलोचकों को भी बताओ कि भाषा कैसे तोड़ी जाती है। जिस दिन यह भाषा तोड़कर हम नई भाषा बनाएंगे, आलोचना पढ़ने लायक होगी अन्यथा यह चोरों की या उनके गिरोहों की एक कूट भाषा बनेगी, जिसमें खग बोलेगा और खग ही सुनेगा।"[2]

5.7 नवमार्क्सवादी चिन्तन

सोवियत संघ के विघटन के बाद क्रांति की संभावनाएं समाप्त हुई या कर दी गई।

---

[1] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 249

[2] वही, पृष्ठ - 179

मार्क्सवादियों ने नए सिरे से सोचना शुरु किया जिसमें लोगों के बीच जाकर उनकी चेतना का विकास करना उन्हें एकमात्र चारा नजर आने लगा, "80 से 1990 का कालखण्ड जो द लांग नाइण्टीज का निर्णायक कालखण्ड है, में विश्व मानवीय विकास के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दुर्घटना होती है, वह है सोवियत रूस का पतन। प्रतिरोध एवं परिवर्तन के महान स्वप्न का भंग। इस घटना ने पूरी दुनिया में एक संशय एवं भय को जन्म दिया।"[1] उत्तर - आधुनिकता के बहाने मार्क्सवाद की पुनः व्याख्याएं होने लगी। बुद्धिजीवी मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर सवाल उठाने लगे रामाज्ञा शशिधर के अनुसार, "अब पुराने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का पुराने ढंग से इस्तेमाल कर काम नहीं चलाया जा सकता।"[2]

साहित्य में उभरते विभिन्न विमर्शों को नए तरीके तथा नजरिए से देखने - समझने की जरुरत महसूस की जाने लगी है। क्योंकि आज का कॉरपोरेट पूंजीवाद मार्क्स के औद्योगिक पूंजीवाद से पूर्णतः भिन्न है। देरिदा जो पहले मार्क्सवादी चिंतक थे बाद में उत्तर - आधुनिकतावाद के प्रहरी बने। मार्क्सवादी आलोचना के अंतर्गत जहां साहित्य की व्याख्या सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में की जा रही थी वहीं देरिदा ने 'विखण्डनवाद' में कृति के पाठ पर जोर दिया जो एक तरह से समग्रता का विरोध था। भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण से भारतीय व्यवस्था में बदलाव हुआ। सत्ता तथा समाज में बहुत सारी धाराएं एक साथ बहने लगी, जिसने केंद्र को तोड़ा, "80 - 90 के दौर में ही भारतीय जनतांत्रिक राजनीति फ्रैक्चर्ड होती है। सत्ता की केन्द्रीयता टूटती है। उपेक्षितों की राजनीति बलवती होती है, नए सामाजिक समूह भारतीय जनतांत्रिक राजनीति में महत्त्वपूर्ण होते जाते हैं। यह सब सामाजिक, राजनैतिक प्रक्रियाएं हमारे आलोचनात्मक चेतना और बोध एवं रचनात्मक स्फेयर में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला रही थीं।"[3]

सभी राजनैतिक पार्टियों के बाद अब आलोचकों में पूंजीवाद की सर्वस्वीकृति बन रही है। पूंजीवाद के दुष्प्रभाव रचना तथा आलोचना में व्यक्त जरुर है लेकिन तीखा विरोध या वैकल्पिक

---

[1] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 53

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, जुलाई - अगस्त, 2011, (युवा आलोचना अंक), पृष्ठ - 23

[3] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 53

व्यवस्था वहां मौजूद नहीं है। आलोचकों में सुधारवादी आंदोलनों के प्रति सहानुभूति जगी है, "प्रगतिशील आलोचकों ने ही इस बात की सबसे ज्यादा सुध ली कि वे नवजागरण या सुधारवादी साहित्य की परम्परा के मूल्यवान तत्वों को आत्मसात करें और उनकी शक्ति से पाठकों को परिचित करायें।"[1] जो मार्क्सवादी चिंतक/आलोचक समाजशास्त्र के विरोधी थे अब वही 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' लिखने लगे हैं। लोकवृत्त की बात साहित्य में बार - बार उठने लगी है। मार्क्सवाद का यह जो लचीला रूप है वह नवमार्क्सवाद ही है। पूंजी तथा बाजार के नए रूप को मनुष्य विरोधी बताने की बजाय आलोचक उसे कई मायनों में मनुष्य की आजादी का पक्षधर तथा सामंती मूल्यों के तोड़क के रूप में पेश कर रहे हैं, "अब पुराने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का पुराने ढंग से इस्तेमाल करके काम नहीं चलाया जा सकता। युवा आलोचना के सामने प्रधान अंतर्विरोध नवसाम्राज्य बनाम भारतीय आम जन का संघर्ष है।"[2] आलोचना में नव तथा उत्तर को फैशन के तौर पर इस्तेमाल किया जाने लगा है, जिसके बहाव में मार्क्सवाद भी बहने लगा है।

इस प्रकार उत्तरशती की आलोचना ने अनेक रूपों में बदलाव को ग्रहण किया है। इस समय में हुए बदलावों के तुरंत प्रभाव में आकर, नए का ग्रहण तथा पुराने के त्याग की प्रवृति के कारण आलोचना ने प्रतिमानीकरण से मुहं मोड़ लिया है। विज्ञापन के रूप में विकसित आलोचना पद्धति में सच कहने का साहस खत्म होता जा रहा है। पदनाम के लालच में आलोचक सीधा - सीधा विरोध दर्ज नहीं करवा पा रहा। सांस्कृतिक घालमेल तथा नए विमर्शों के उभार से बहुत सारी चीजों का पुनर्मूल्यांकन होने लगा है।

---

[1] शिव वर्मा (सम्पा.), नया पथ, जनवरी - जून:2012 (संयुक्तांक) में वैभव सिंह के लेख 'विचार का जनतन्त्र' से, पृष्ठ - 45

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 23